03 भारत में सामाजिक विज्ञान का 'हीन' दर्जा – कारण व सुधारात्मक उपाय

ऋषिकेश बी.एस.

अगर यह कहा जाए कि नई–नई जगहें देखने–घूमने जाना, राजनीति पर बहस, प्रसिद्ध व साधारण लोगों से जुड़ी हुई कहानियाँ, आम भारतीयों के लिए (और शायद दुनिया के बाकी लोगों के लिए भी) फुरसत में चर्चा के लिए सबसे प्रिय विषय हैं, तो क्या इस पर कोई विवाद होगा? मुझे नहीं लगता। किसी भी पर्यटन यात्रा आयोजक से पूछें तो वह कहेगा उसका बिजनेस फल–फूल रहा है, किसी भी चर्चा मंच पर गौर करें, अनौपचारिक सभा हो या औपचारिक, आप पाएँगे कि राजनीति सबसे ज्यादा चर्चित विषय है। हमारे अखबारों के दैनिक परिशिष्टों व आम पत्रिकाओं की एक झलक देखने भर से लोगों से सम्बन्धित कहानियों की बिकाऊ लोकप्रियता की पुष्टि हो जाती है।

सामाजिक विज्ञान के विषय की ऊपरी पर्तें हटाकर कर देखें तो पाएँगे कि उसकी बुनियादी प्रकृति का सरोकार लोगों, जगहों और संस्थाओं के किस्से कहानियों से ही है। उन्हें ही हम अपने चारों तरफ कहानियों में बदलता देखते हैं, चाहे वह टी.वी. पर हो या फिल्मी पर्दे पर या फिर अखबारों में। परन्तु, यदि सामान्य लोगों के बीच यह सर्वे किया जाए कि अपने स्कूली दिनों में उन्हें सामाजिक विज्ञान में कितनी दिलचस्पी थी, तो यह बात सामने आएगी कि उन्हें सामाजिक विज्ञान के विषय पढ़ते समय ऊब होती थी इसलिए उनका दिमाग इन विषयों में बिलकुल भी नहीं चलता था, या फिर उनकी अरुचि इसलिए थी क्योंकि उन्हें इनमें कुछ भी ऐसा दिखाई नहीं देता था जो जीवन की वास्तविकताओं से दो–चार होने में आगे उनकी मदद करता। और यह तब जबकि ये सभी विषय जीवन के बारे में ही हैं।

> *स्कूलों में, सामाजिक विज्ञान के विषयों की समझ को बेहतर बनाने के लिये कई तरीके हैं। लेकिन, भारत के अधिकांश स्कूलों में बच्चों को तोतारटन्त बनाने पर ही जोर दिया जाता है।*

स्कूल में सामाजिक विज्ञान के अन्तर्गत जो विषय होते हैं वे अतीत से हमारा सम्बन्ध जोड़ते हैं, ताकि हम यह समझें और उसकी कद्र करें कि हम जहाँ अभी हैं वहाँ तक कैसे आए हैं। ये विषय, हम पर शासन करने वाली संस्थाओं के अध्ययन के माध्यम से हमें वर्तमान से भी जोड़ते हैं, तथा हम जिस वृहद् पारिस्थितिक तंत्र का हिस्सा हैं उसकी समझ हमारे भीतर विकसित करके अतीत और वर्तमान को

परिचित सन्दर्भों में हमारे सामने लाते हैं। सामाजिक विज्ञान एक बेहतर दुनिया बनाने का सपना देखने में हमारी मदद करता है। मानवीय विकास से जुड़े हुए व्यावहारिक प्रश्न जैसे कि 'नगरों को कैसे बेहतर बनाएँ, लोगों के जीवनस्तर में सुधार कैसे किया जाए, अपराध–दर को कैसे कम किया जाए, भेदभाव को कैसे दूर किया जाए, बेहतर शासन किस तरह प्रदान किया जा सकता है, उत्पादकता और कैसे सुधर सकती है', आदि इन्हीं सब बातों से सामाजिक विज्ञान बनता है।

यदि यह सच है, तो जब इन मुद्दों को इकट्ठा करके विषयों के रूप में सामने रखा जाता है तो वे अरुचिकर और बेकार कैसे लगने लगते हैं? क्या इसका सम्बन्ध इन विषयों का अध्ययन करने के लिए तैयार की जाने वाली सामग्री से है, या फिर उस ढंग से, जिसका इस्तेमाल सामाजिक विज्ञान के शिक्षक कक्षा में बच्चों को पढ़ाते वक्त करते हैं? उत्तर ऊपर की दो बातों में छिपा है। लेकिन, दूसरा कारण ज्यादा महत्वपूर्ण है क्योंकि कोई विषय नीरस तभी बनता है जब उसे नीरस बनाने में शिक्षण का योगदान रहा हो! बहुत कुशलता से तैयार की गई किताब का इस्तेमाल भी कोई शिक्षक इस ढंग से कर सकता है कि जोशीले छात्र–छात्राओं की कक्षा उबासियाँ लेने पर मजबूर हो जाए। अच्छी सामग्री हो तो विद्यार्थी बिना शिक्षक के भी उससे लाभ ले सकता है। लेकिन कोई शिक्षक पक्के तौर पर अच्छी भली स्थिति खराब कर सकता है और हम स्कूलों में यही देख रहे हैं।

स्कूलों में, सामाजिक विज्ञान के विषयों की समझ को बेहतर बनाने के कई तरीके हैं। लेकिन, भारत के अधिकांश स्कूलों में बच्चों को तोतारटन्त बनाने पर ही जोर दिया जाता है। शिक्षक व्याख्यान देता रहता है और विद्यार्थी मशीनी ढंग से अपनी कॉपियों में नोटस बनाते रहते हैं और फिर उन्हें रटकर परीक्षाओं में वैसे का वैसा उगल आते हैं और पास हो जाते हैं। उनका उत्तर, शिक्षक द्वारा कही गई बात के जितना ज्यादा करीब होता है, उतने ही ऊँचे उनके प्राप्तांक होते हैं। उन्होंने 'सफलता के झण्डे गाड़ दिए' ऐसा ही कहा जाता रहेगा जब तक कि ये झण्डे शिक्षक द्वारा बताए गए विवरणों से हूबहू मिलते रहें! हालाँकि परिवर्तन की कमान शिक्षकों के हाथों में प्रतीत होती है, लेकिन असली दोष खुद हमारे समाज में है, जिसने सामाजिक विज्ञान को दोयम दर्जा दिया हुआ है।

यदि कोई विद्यार्थी सामाजिक विज्ञान से जुड़ा कोई विषय, खासतौर

पर मानविकी से जुड़ा विषय (इतिहास, साहित्य, और दर्शनशास्त्र जैसे विषय जो मानव संस्कृति और विचारों के अध्ययन पर आधारित हैं) चुनता है, तो वह प्राकृतिक विज्ञानों को चुनने वाले विद्यार्थी की तुलना में कम बुद्धिमान/होशियार माना जाने लगता है। कमतर होने का यह ठप्पा सबसे पहले तो परिवार के स्तर पर ही लग जाता है और इसका महत्वपूर्ण कारण है आधुनिक भारतीय समाज द्वारा इंजीनियरों तथा डॉक्टरों को दिया गया ऊँचा दर्जा। यहाँ एक बात और, जिन विद्यार्थियों ने प्राकृतिक विज्ञान के किसी विषय को चुना है, पर जो इंजीनियरी या चिकित्सा जगत में कैरियर बनाने के इच्छुक नहीं हैं, उन्हें भी सम्भवतः उसी चश्मे से देखा जाएगा जिससे सामाजिक विज्ञान पढ़ने वालों को देखा जाता है। जो यह दर्शाता है कि अध्ययन की इन दोनों शाखाओं के प्रति समाज का दृष्टिकोण कितना एकतरफा है। अतः समाज की यह पूर्वधारणा है कि वे ही बच्चे सामाजिक विज्ञानों का चुनाव करते हैं जो बाद की, ऊँचे दर्जे की पढ़ाई के लिए प्राकृतिक विज्ञानों को पढ़ने में असमर्थ हैं। एनसीएफ 2005 भी समाज में व्याप्त इस दृष्टिकोण की पुष्टि करता है। उसमें कहा गया है कि 'स्कूली शिक्षा के शुरुआती दौर से ही विद्यार्थियों को अक्सर यह सुझाया जाता है कि प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञानों की तुलना में श्रेष्ठतर हैं, और वे 'बुद्धिमान' विद्यार्थियों का अधिकार क्षेत्र हैं।' एनसीएफ आगे कहता है कि इसके परिणामस्वरूप, सामाजिक विज्ञानों की कक्षा में पढ़ाई की प्रक्रिया पर हीन भावना से भरा माहौल हावी रहता है जिसमें शिक्षक व विद्यार्थी, दोनों की ही विषयवस्तु को समझने में कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती।

भारत में, सामाजिक विज्ञान को लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के पढ़ने की चीज ज्यादा माना जाता है। यह एक तरह से 'पितृसतात्मक और लैंगिक भेदभाव रखने वाले' समाज का इस विषय को महत्वहीन और उपेक्षापूर्ण दर्जा देने का तरीका है। यह न केवल इस बात का प्रमाण है कि समाज, सामाजिक विज्ञान को किस नजर से देखता है, बल्कि इसका प्रमाण भी है समाज स्त्रियों को किस नजर से देखता है। महत्व, माँग और इसलिए शुल्क, इन तीन बातों के सन्दर्भ में सामाजिक विज्ञान के विषयों को गैर मूल्यवान माना जाता है, और पुरुष–प्रधान समाजों में यह माना जाता है कि लड़कियों को किसी भी मूल्यवान सार्थक विषय का अध्ययन करने की जरूरत नहीं है – इस तरह की मान्यता के फलस्वरूप ही समाज 'उत्पीड़ित' को 'अयोग्य' के रूप में देखने लगता है।

मौजूदा स्थिति को देखते हुए, प्रश्न उठता है कि सुधार की प्रक्रिया क्या हो। सुधार जरूरी है क्योंकि मनुष्य का आगे का विकास तभी सम्भव है जब हम अपने समाज को समझें। सभी स्तरों पर समाज का अध्ययन ही सामाजिक विज्ञान है। यह एक बहु–अध्ययनक्षेत्रीय विषय है जो सम्भवतः बाकी सभी विषयों से और मानवीय अनुभवों से कुछ न कुछ लेता है। इसका क्षेत्र और महत्व लगातार बढ़ता जा रहा है, साथ ही मनुष्य की प्रगति को और आगे बढ़ाने में भी यह अनमोल बनता जा रहा है। सुधार की प्रक्रिया के सम्बन्ध में एक तर्क यह है कि जब तक स्कूलों में सामाजिक विज्ञान को पढ़ाने का ढंग नहीं बदलता (जिससे विद्यार्थी को जीवन की व्यावहारिकताओं में सामाजिक विज्ञान की उपयोगिता समझने का मौका मिले) तब तक हम इस विषय के प्रति समाज का दृष्टिकोण कतई नहीं बदल पाएँगे। दृष्टिकोण बदलने का भार खुद सामाजिक विज्ञान पर ही है – क्या ऐसा होने की कोई उम्मीद है? थोड़ा–सा इतिहास हमें इसकी बेहतर जानकारी दे सकता है।

भारत में, सामाजिक विज्ञान को लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के पढ़ने की चीज ज्यादा माना जाता है, और यह एक 'पितृसत्तात्मक और लैंगिक भेदभाव रखने वाले' समाज का इस विषय को महत्वहीन और उपेक्षापूर्ण दर्जा देने का तरीका है।

सामाजिक विज्ञान ने उन्नीसवीं सदी में आकार लेना शुरू किया और बीसवीं सदी में आकर अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान, इतिहास, भूगोल, मनोविज्ञान और मानवशास्त्र ने अपनी जगह बनाई। इस तरह इसका इतिहास एक सदी से भी कम पुराना है। इसलिए, इसका दूसरे विषयों की तुलना में काफी नया होना, वृहद् समाज में इसकी मौजूदा छवि का एक प्रमुख कारण हो सकता है। इस बात पर गौर करना दिलचस्प होगा कि सामाजिक (अध्ययन) विज्ञान आधुनिक भारत के आधिकारिक पाठ्यक्रम का हिस्सा गाँधीजी के बुनियादी शिक्षा कार्यक्रम के साथ ही बना। बाद में माध्यमिक शिक्षा आयोग ने इस विषय को अखिल भारतीय स्तर पर आधिकारिक मान्यता प्रदान की। 1953 की मुदलियार आयोग रिपोर्ट ने वैश्विक नागरिकता की तात्कालिक रूप से प्रासंगिक अवधारणा की ओर आवश्यक ध्यान देने की बात कही थी, लेकिन 50 साल बाद भी, सामाजिक (अध्ययन) विज्ञान का अध्ययन आज भी तारीखों, तथ्यों तथा प्रसिद्ध लोगों, स्थानों और संस्थानों के नामों तक ही सीमित है। अपनी स्थापना के तुरन्त बाद ही, एनसीईआरटी, सामाजिक (अध्ययन) विज्ञान पढ़ाने के उद्देश्यों के साथ सामने आई। लेकिन उसने भी आम और अब उबाऊ बन चुकी बातों, जैसे कि 'बेहतर नागरिक बनाने', 'दिमागों को सोचने के लिए प्रशिक्षण देना' और 'खुद को खुलकर अभिव्यक्त करने की योग्यताएँ विकसित करना', आदि उद्देश्यों का प्रमुखता के साथ उल्लेख

किया। हमारे चारों तरफ ऐसे उदाहरण हैं जो दर्शाते हैं कि वृहद् समाज को तो छोड़ दें, हमारे स्कूल भी इन उद्देश्यों को हासिल कर पाने के करीब नहीं पहुँचे हैं। 1964 में, कोठारी आयोग ने कहा था कि पर्यावरण का ज्ञान और मानवीय सम्बन्धों की समझ हासिल करने के अलावा, सामाजिक (अध्ययन) विज्ञान पढ़ाने का एक और उद्देश्य है। वह है दुनिया के घटनाक्रमों में भागीदारी के लिए जरूरी कुछ खास मूल्यों और प्रवृत्तियों को सीखने में विद्यार्थियों की मदद करना। 2005 में, सामाजिक विज्ञान पर अपने आधार पत्र (पोजीशन पेपर) में, एनसीएफ ने कहा कि यह जरूरी है कि 'सामाजिक विज्ञान के महत्व को, केवल तेजी से फैल रहे सेवा क्षेत्र में नौकरी पाने के लिए नहीं, बल्कि इसकी बढ़ती प्रासंगिकता को चिन्हांकित करके, एक विश्लेषणात्मक व सृजनशील दिमाग की बुनियाद रखने में इसकी अपरिहार्यता की तरफ इशारा करते हुए पुनर्स्थापित किया जाए।'

आधुनिक भारत में सामाजिक विज्ञान को शिक्षा के सन्दर्भ में मुख्यधारा में लाए जाने के बाद सभी समितियों ने 'उचित' बातें कही हैं, फिर भी इस विषय को वृहद् समाज की नजरों में अभी तक वह दर्जा नहीं मिल सका है जो उसे मिलना चाहिए। समाज के बड़े हिस्से के लिए सामाजिक विज्ञान एक अनुपयोगी विषय है। इसलिए, लोगों को इस बात का एहसास कराने की जरूरत है कि सामाजिक विज्ञान के विषय वैश्वीकृत दुनिया से तालमेल बैठाने, और 'राजनैतिक व आर्थिक वास्तविकताओं का सामना करने' के लिए आवश्यक कई योग्यताओं को हासिल करने हेतु अत्यावश्यक हैं।

अतन्तः सुधार की प्रक्रिया सामाजिक विज्ञान में ही निहित है और जिम्मेदारी भी उसी पर है। सुधार प्राथमिक स्कूली स्तर पर होना आवश्यक है। प्रचलित दृष्टिकोण है कि 'सामाजिक विज्ञान तो सिर्फ परीक्षाओं हेतु रटने के लिए सामग्री उपलब्ध कराता है, और स्कूलों में उपयोग की जाने वाली इसकी अध्ययन सामग्री की विषयवस्तु का जीवन की वास्तविकताओं से दूर का नाता होता है।' इसे बदलने की जरूरत है। आवश्यक बदलाव के लिए, सामाजिक विज्ञान पाठ्यचर्या, उपलब्ध सामग्री जैसे कि प्रस्तावित पाठ्यपुस्तकें और सामाजिक विज्ञान के विषयों के शिक्षक, ये तीन अति महत्वपूर्ण कारक हैं। एनसीएफ 2005 ने पाठ्यचर्या के लिए उपयुक्त रूपरेखा की पहचान करने की तरफ एक बड़ा कदम उठाया है। सीबीएसई की नई सामग्री (इसमें पाठ्यपुस्तकें शामिल हैं) निश्चित ही एक बड़ा सुधार है और इनका प्रभावशाली ढंग से उपयोग करके काफी कुछ हासिल किया जा सकता है। तीसरे महत्वपूर्ण कारक यानी कि शिक्षक पर भी ध्यान देना होगा।

इस तीसरे कारक को वांछनीय ढंग से सक्रिय करना, सामाजिक विज्ञान के दर्जे को ऊपर उठाने के लिए जरूरी सुधारों की कुंजी है। बच्चे खुद से सामाजिक विज्ञान के विषयों की पड़ताल कर पाएँ, इसे सुलभ बनाने में शिक्षकों द्वारा मदद किए जाने की स्थिति तैयार करना, और उनका ध्यान सतही 'तथ्यों' की बजाय अवधारणात्मक समझ पर केन्द्रित करवाना, ये चुनौतियाँ भी मौजूदा परीक्षा प्रणाली के साथ गुंथी हुई हैं। परीक्षा प्रणाली उन शिक्षकों के लिए एक बहाना नहीं होना चाहिए जो ऐसा प्रतिरूप अपनाने से मना करते हैं जिसमें वे विद्यार्थियों के साथ मिलकर ज्ञान उत्पन्न करेंगे, क्योंकि जिन्होंने ऐसी सहयोगात्मक पद्धति अपनाई है, उन्होंने पाया है कि एक बार अवधारणा की समझ हासिल हो जाने के बाद परीक्षा के ढाँचे से कोई फर्क नहीं पड़ता।

ऐसी पारस्परिक रूप से सक्रिय भागीदारी वाली व्यवस्था में ज्ञान व योग्यताएँ हासिल करने में विद्यार्थियों की मदद करके सामाजिक विज्ञान में नए प्राण फूँकने के लिए यह समझ बहुत जरूरी है। गणित तथा भौतिकी जैसे विषयों में उनकी कुछ अन्तर्निहित विशिष्टताओं के कारण पढ़ाने के उपदेशात्मक ढंग से बचे रहने की सम्भावना रहती है। लेकिन सामाजिक विज्ञान में छात्र की दिलचस्पी पढ़ाने के ऐसे ढंग द्वारा पक्के तौर पर नष्ट कर दी जाती है जिसमें भागीदारी–आधारित पद्धति के माध्यम से आलोचनात्मक दृष्टिकोणों को बढ़ावा नहीं दिया जाता। सामाजिक विज्ञान का एक महत्वपूर्ण पक्ष है थोड़े अलग–अलग कोणों वाले उत्तरों, या कभी–कभी पूर्णतः विपरीत उत्तरों की सम्भावना। इसलिए, प्राकृतिक विज्ञानों के शिक्षक से ज्यादा सामाजिक विज्ञान के शिक्षक के लिए पीठासीन होकर प्रवचन देने की पारम्परिक आदत से हटना जरूरी है। शिक्षण के ढंग में ऐसी तब्दीली करने से, जहाँ कि महज जानकारी प्रदान कर देने के बजाय बहसों और चर्चाओं को प्रमुखता दी जाए, विद्यार्थियों और शिक्षक, दोनों को वास्तविक जीवन की परिस्थितियों को जीवन्त ढंग से समझने में मदद मिलेगी। जैसा कि एनसीएफ 2005 में कहा गया है, 'यह जरूरी है कि सीखने की प्रक्रिया बच्चों व शिक्षकों, दोनों में सृजनात्मकता तथा एक दूसरे से सवाल–जवाब करने की भावना को बढ़ावा दे।' 'जाँच–पड़ताल' का विचार सामाजिक विज्ञान के विषय में जान फूँकने के लिए बहुत बुनियादी महत्व का है और जब ऐसा होगा तभी इस विषय की उपयोगिता उभर कर आएगी। अतः शिक्षण के लिए एक खुला रवैया रखना बहुत जरूरी है। शिक्षकों को बच्चों के बीच मतभेदों को उभरने की गुंजाइश देना चाहिए ताकि वे अलग–अलग दृष्टिकोणों को देख पाएँ और उन भिन्न–भिन्न मतों की सराहना कर पाएँ जो हमेशा विद्यार्थियों के अलग–अलग स्थानीय सन्दर्भों पर आधारित होते हैं।

अतः यह सामाजिक विज्ञान के शिक्षक के हाथों में है कि इस विषय के दर्जे को उस ऊँचाई तक उठाया जाए जहाँ वह विद्यार्थियों की सीखने की यात्रा में उनके विकास में योगदान देता हुआ दिखाई दे।

यह जरूरी है कि सामाजिक विज्ञान का अध्यापक शिक्षण के विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों का अध्ययन और विश्लेषण करे, इसके बाद उनसे आवश्यक संश्लेषित दृष्टि विकसित करे। अपेक्षित कई चीजों में से एक यह है कि सामाजिक विज्ञान के शिक्षक को एक दार्शनिक की भूमिका निभाना चाहिए। उसे अलग–अलग दार्शनिक विचारधाराओं की जानकारी होनी चाहिए। ऐसा हो इसके लिए, शिक्षकों के प्रशिक्षण में बुनियादी बदलाव लाने की जरूरत है। यह उनके लिए खासतौर पर तैयार किए जाने वाले शिक्षण कोर्सों के माध्यम से किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, शैक्षणिक दर्शन को अपने उद्देश्यों में उपयोगवादी होना चाहिए और ऐसा होने के लिए यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि उस दर्शन के सिद्धान्तों को अमल में लाने पर ध्यान केन्द्रित किया जाए।

> *इसलिए, प्राकृतिक विज्ञानों के शिक्षक से ज्यादा सामाजिक विज्ञान के शिक्षक के लिए पीठासीन होकर प्रवचन देने की पारम्परिक आदत से हटना जरूरी है; शिक्षण के ढंग में ऐसी तब्दीली करने से, जहाँ कि महज जानकारी प्रदान कर देने के बजाय बहसों और चर्चाओं को प्रमुखता दी जाए, विद्यार्थियों और शिक्षक, दोनों को वास्तविक जीवन की परिस्थितियों को जीवन्त ढंग से समझने में मदद मिलेगी।*

सामाजिक विज्ञान शिक्षक के लिए यह जरूरी है कि पढ़ाने के लिए वह कई सारी पद्धतियाँ एक साथ अपनाए। जैसे कि प्रोजेक्ट विधि जिसमें सीखने के लिए गतिविधि–केन्द्रित पद्धति अपनाई जाती है, सवाल हल करने वाली पद्धति जिसमें हल ढूँढ़ने के लिए विभिन्न शैक्षणिक शाखाओं की विषयवस्तु का इस्तेमाल किया जाता है, इत्यादि। इससे विद्यार्थियों में ऐसी योग्यताओं का विकास होगा जिनका दैनिक वास्तविकताओं के साथ सामंजस्य हो। ऐलेन जैनिक 'फ्यूचर फॉर द ह्यूमैनिटीज़', शीर्षक वाले एक शोधपत्र में एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि एक प्रतिभावान चालीस वर्षीय वास्तुविद या इंजीनियर के लिए, किसी प्रबन्धन वाले ओहदे पर दी गई पदोन्नति बहुत तकलीफ देने वाली बात हो सकती है, यदि उसके पास प्रबन्धक होने (जो मुख्यतः संघर्षों से निपटने का ही काम है) की कोई तैयारी नहीं हो। संघर्ष का समाधान करना एक ऐसी योग्यता है जिसे व्यक्ति सामाजिक विज्ञान के माध्यम से आत्मसात करता है। लेखक महोदय बिलकुल सही तर्क देते हैं कि इस मामले में ज्यादा तकनीकी ज्ञान निरर्थक होगा क्योंकि उस वास्तुविद/इंजीनियर की तकनीकी कुशाग्रता के ही कारण उसकी यह 'दुर्भाग्यपूर्ण' पदोन्नति हुई थी और केवल सामाजिक विज्ञान से प्राप्त कुशलताएँ ही उसे सकारात्मक सहयोग दे पाएँगी। वे यह कहते हुए सामाजिक विज्ञान के विषयों को पढ़ने की बात का समर्थन करते हैं कि मानविकी के विषय (जो कि सामाजिक विज्ञान का केवल एक हिस्सा हैं) उस सन्दर्भ को समझने में बहुत महत्वपूर्ण होते हैं जिसके अन्तर्गत ज्ञान का समाज में प्रयोग होता है, और इस प्रकार जिन्दगी भर सीखते रहने के किसी भी गम्भीर रवैये के लिए भी मददगार होंगे। वे जीवन भर सीखने का अर्थ, अपने आप में निष्ठापूर्वक लगातार संशोधन और समायोजन करते रहने को मानते हैं जो तकनीकी ज्ञान भर से सुगम नहीं बन सकता। यह शोधपत्र आगे बताता है कि 2008 के आर्थिक संकट ने किस तरह हमें यह दिखाया कि हमें 'अपने और विश्व के बारे में हमारे द्वारा बना ली गई निर्विवादित मान्यताओं में सुधार करते हुए जबर्दस्त बदलाव करने की जरूरत है। ऐसी दुष्कर परिस्थितियों में सफल परिवर्तन कर पाने का एक हिस्सा यह समझना होगा कि किस तरह हमारे मन, हमारी जिन्दगियाँ और हमारे उद्योग हमेशा ही ऐसी परिस्थितियों में उलझे रहते हैं जो हमारे द्वारा बनाई गई नहीं होतीं, और जो कि अचानक नाटकीय ढंग से अप्रत्याशित तरीकों से बदल सकती हैं।' और इस तरह वे तर्क देते हैं कि मानविकी के विषय मानवीय जीवन और गतिविधि के बारे में ऐसे दृष्टिकोण हासिल करने के लिए बहुत जरूरी हैं जो महत्वपूर्ण स्थितियों में काम आते हैं तथा समाज (खासतौर पर राजनेता व नीतिनिर्धारक) इनकी बेफिक्री से उपेक्षा नहीं कर सकता, जैसा कि हमने हाल के समय में, खासतौर पर भारतीय सन्दर्भ में देखा है।

सामाजिक विज्ञान के लिए खुद को ऐसे अध्ययन क्षेत्र के रूप में स्थापित करना भी बहुत जरूरी है जो सफल कैरियरों के निर्माण में योगदान करता है। हालाँकि देश के कुछ शहरी केन्द्रों में दृष्टिकोण बदल रहा है, पर अभी भी प्रचलित दृष्टिकोण यही है कि सामाजिक विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए नौकरियों के बहुत अधिक वांछनीय विकल्प उपलब्ध नहीं होते। इसलिए, वृहद् समाज के सामने आज के समय में सामाजिक विज्ञान की प्रासंगिकता को स्थापित करना बेहद जरूरी है।

आखिर में, हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि यह स्पष्ट होता जा रहा है कि सामाजिक विज्ञान की प्रासंगिकता उत्तरोत्तर बढ़ रही है। वह ज्ञान–आधारित अर्थनीति व समाज की रचना से तथा हाल ही में उभरी साक्ष्य–आधारित राजनीति के साथ आन्तरिक रूप से जुड़ा है। सरकारों को यह अहसास हो रहा है कि किस तरह सामाजिक विज्ञान समाज के प्रबन्धन में मदद कर सकता है। उनके सामने आ रही कुछ खास किस्म की समस्याओं से निपटने के लिए वे सामाजिक विज्ञान पर निर्भर होती जा रही हैं। उदाहरण के लिए, आधुनिक सरकारें शोध परियोजनाएँ चलाती हैं और इन अध्ययनों

से प्राप्त जानकारियाँ सामाजिक भेदभाव, बेरोजगारी, शहरी हिंसा, इत्यादि विभिन्न मुद्दों से निपटने के लिए बनाए जाने वाले सरकारी कार्यक्रमों के निर्धारण को प्रभावित करती हैं।

> *एक प्रोजेक्ट–आधारित पद्धति जो सीखने के लिए गतिविधियों पर केन्द्रित दृष्टिकोण पर जोर देती है, शिक्षा के दर्शन की तरह 'मानववादी विचारधारा' जिसकी वकालत कार्ल रॉजर्स (1902–1985) ने की थी और जिसमें विद्यार्थी ही उन प्रश्नों की पहचान करते हैं जिनका उत्तर दिया जाना है, ताकि सीखने में जो वांछनीय है वह उनके भीतर से ही निकलकर आता है, और समस्याओं को सुलझाने की ऐसी विधि अपनाना जिसमें विभिन्न अध्ययनक्षेत्रों से सामग्री ली जाती है, इन सभी का समाधान खोजने के लिए इस्तेमाल किया जाता है।*

'इनटू द फ्यूचर विथ सोशल साइंसेज़' शीर्षक के एक दशक पुराने शोधपत्र में डायरेक्ट्रेट फॉर इकोनॉमिक को–ऑपेरेशन एण्ड डेवेलपमैंट के ज्यां–ऐरिक ऑबर्ट ने अनुमान लगाया था कि 'सम्भवतः सूचना युग में और ज्ञान–आधारित विश्व की अभौतिक अर्थनीति में समाज को खुद को और बेहतर ढंग से जानने की गहरी जरूरत महसूस होगी, भले ही वह सिर्फ खुद को बचाए रखने के लिए हो। तब सामाजिक विज्ञानों की माँग बहुत बढ़ जाएगी।' आज भारतीय सन्दर्भ में भी हम यह साफ तौर पर कह सकते हैं, कि इस समय प्रवृत्ति सामाजिक विज्ञान का दर्जा उस जगह से कहीं ज्यादा ऊँचाई पर ले जाने की ओर है, जहाँ वह अभी तक रहा है। इन बदलावों को शहरी केन्द्रों में तो अब देखा भी जा सकता है और सामाजिक विज्ञान की प्रासंगिकता को लेकर प्रचलित दृष्टिकोण भी बदल रहे हैं। इससे साफ तौर पर आकांक्षी विद्यार्थियों के बीच इस विषय की माँग बढ़ी है। लेकिन, फिलहाल भारत में बहुत कम जगहें ऐसी हैं जहाँ सामाजिक विज्ञान को उस तरह पढ़ाया जाता है जिस तरह उसकी अपेक्षा होती है। पर आशा यही है कि यह तस्वीर भी जल्दी ही बदलेगी। चेतावनी यही है कि हमें जरूरी सुधारों की ओर से नजर नहीं फेरना चाहिए।

References

1. Philosophy Perspectives in Teaching social studies. Dr. Marlow Ediger, Professor of Education, Truman State University Campus. Journal of Instructional Psychology.
2. Ediger, M. & Rao, D.B. (2000) Teaching social studies Successfully. New Delhi, India: Discovery Publishing House.
3. Teaching of social studies in India By P. K. Khasnavis.
4. Position paper, National Focus Group on Teaching of Social sciences, National Curriculum Framework 2005.

ऋषिकेश *फिलहाल अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की रिसर्च एण्ड डॉक्यूमैंटेशन टीम का हिस्सा हैं। सामाजिक विज्ञान के प्रति उनकी जोशीली दिलचस्पी के चलते उन्होंने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से इतिहास में एम.ए. किया। उन्होंने शैक्षणिक शोधकर्ता बनने से पहले स्कूलों में इतिहास की कार्यशालाएँ संचालित कीं और वे इस विषय में अपनी दिलचस्पी को फाउण्डेशन की विभिन्न अकादमिक व शिक्षण–सम्बन्धी गतिविधियों के माध्यम से बनाए रखते हैं। उनसे इस ईमेल rishikesh@azimpremjifoundation.org पते पर सम्पर्क किया जा सकता है।*